International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232; Impact Factor: RJIF 5.22
Received: 21-01-2021; Accepted: 06-02-2021; Published: 03-03-2021
www.hindijournal.com
Volume 7; Issue 2; 2021; Page No. 05-06

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लोक साहित्य की प्रासंगिकता

डॉ शारदा प्रसाद
प्राचार्या, महिला महाविद्यालय, रामगढ. कैंट, झारखंड, भारत।

सारांश
लोक साहित्य सामान्य जन के हृदय से निकली हुई सहज अनुभूतियों की वह पवित्र मंदाकिनी है, जिसमें कलुपता लेशमात्र को भी नहीं। यह जन–जन के कंठ में व्याप्त मधुर अनुभूतियां हैं। जिसमें सामन्य जन के हर्ष–विषाद्, रूदन–ह्रास, उल्लास–परिहास, रीति–परंपरा, तीज–त्यौहार व्रत इत्यादि सहज ही कथा, कहानी और गीत–संगीत के माध्यम से अनायास ही प्रस्फुटित हो जाते हैं। इसीलिए लोक साहित्य को सतत् प्रवाहमान नदी की धारा और शिष्ट साहित्य को बंधा हुआ जलाशय भी कहते हैं। आज हम ग्लोबलाइजेशन के जिस संकटमय दौर से गुजर रहे हैं इसमें लोक साहित्य की महत्ता और भी बढ़ जाती है। हम भले ही देश–विदेश में घूम आएं परन्तु सुकून तो अपने घर में ही मिलता है। लोक साहित्य में ही हमारी संस्कृति निहित है। भारतीय संस्कृति लोक की संस्कृति है, जिसमें किसी प्रकार का बनावटीपन नहीं है। यह सामूहिकता की संस्कृति है जहां व्यक्तिवादिता के लिए कोई स्थान नहीं है। लोक संस्कृति ही भारतीय जीवन का आधार है। लोक–लय में ही जीवन स्पंदित है। लोक जीवन के माध्यम से ही आम जन या 'लोक' अपने सुख–दुःख की अभिव्यक्ति करता है। व्रत–त्यौहार जीवन की एकरसता में सावन के मधुर झोकों के समान रस–वृष्टि करता है जिससे थके–हारे, व्यथित, श्रमित मन को जीवन की नवीन ऊर्जा प्राप्त होती है। जन–जन की चेतना की ललित अभिव्यक्ति ही लोक साहित्य में रूपाकार ग्रहण करती है। लोक साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। किसी भी राष्ट्र की धार्मिक, भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, नैतिक और साहित्यिक महत्व की बातें लोक साहित्य में अनायस ही मिल जाती हैं। यही कारण है कि जब कभी इतिहास भी प्रमाण देने में मौन हो जाता है, तब लोक संस्कृति या लोक साहित्य हमें यह उपलब्ध करा देते हैं। अतएव आज लोक साहित्य और लोक संस्कृति को बचाने की आवश्यकता है।

मूलशब्द: लोक, संस्कृति, अनुभूति, लय, अभिव्यक्ति

प्रस्तावना
हम आज ग्लोबलाइजेशन के दौर से गुजर रहे हैं। परिवर्तन के जिस संकटमय मोड़ पर ख़डे हैं वहां लोक साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। लोक साहित्य हवा का वह मंद–मलय झोंके के समान है जो हमारे तपते हृदय को शीतलता प्रदान करता है, सुरभित करता है। कुछ पलों के लिए सुकून से भर देता है।

लोक साहित्य संस्कृति के वाहक हैं और एक कंठ से दूसरे कंठ तक, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अनायस ही लोक कंठ में विराजमान रहते हैं। हम माटी के पुत्र हैं और इसकी जड़ें हमारे अंदर तक समायी हुई हैं। इसके बिना हमारा कोई अस्तित्व नहीं। होता यह है कि हम विश्व के देशों का भ्रमण तो कर आते हैं पर अपने आस–पास के स्थानों से अनभिज्ञ रहते हैं। यदि हम अपने आस–पास बीस किलोमीटर वृत्त का पूरा अध्ययन कर लें तो यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं होगा।

इस संदर्भ में हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्रथम पूज्य गणेश जी माता–पिता की परिक्रमा करके ब्रह्माण्ड परिक्रमा कर ली थी और कार्तिकेय अपनी सवारी मयूर पर बैठकर ब्रह्माण्ड परिक्रमा को निकल पड़े थे। अपनी इसी प्रत्युत्पन्न मति और विचारशीलता के कारण ही श्री गणेश प्रथम पूज्य बन गए।

डॉ. रामनिवास शर्मा ने लोकसाहित्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ''किसी देश के राष्ट्रीय जीवन में लोक साहित्य का महत्त्व अत्यधिक है और यदि ढंग से इसका संरक्षण एवं अनुशीलन किया जाय तो हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि होगी। इस कंठ–अनुकंठ (मौखिक) साहित्य में धर्म, समाज तथा सदाचार संबंधी अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है। इसके साथ ही स्थानीय इतिहास तथा भूगोल संबंधी बातें भी उपलब्ध होती हैं। भाषा शास्त्री के लिए तो यह साहित्य रत्नाकर (सागर) के समान है, जिसमें गोता लगाने पर अनेक अनमोल रत्न प्राप्त हो सकते हैं। जिन देशों या जातियों में लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं होता, वे अपने मौखिक साहित्य पर ही गर्व करते हैं।'' [1]

भारतीय संस्कृति लोक की संस्कृति है। जन–जन की संस्कृति है। 'लोक' से तात्पर्य सम्पूर्ण जीवन और प्रकृति से है। लोक जीवन के माध्यम से ही लोक अपने जीवन के सुख–दुःख, हास–विषाद् आदि मनोभावों की अभिव्यक्ति करता है। इस संदर्भ में डॉ. (श्रीमती) राजेश चतुर्वेदी का कथन सटीक प्रतीत होता है। ''समूची भारतीय संस्कृति लोक में ही निहित है। लोक–संस्कृति भारतीय जीवन का आधार है। मनुष्य के जीवन से लेकर मृत्यु तक घटित होने वाली प्रथा, परंपरा, रीति–रिवाज, संस्कार, गांव, शहर, जीवनोपयोगी वस्तुएं, धर्म–दर्शन, लोक–परलोक तक की रचना लोक संस्कृति की परिधि से ही निकली है। देश के प्रत्येक प्रदेशों एवं प्रांतों में लोक संस्कृति अपने विविध रूपों में दिखलाई पड.ती है।'' [2]

लोक साहित्य यदि नदी का बहता नीर है तो शिष्ट साहित्य एक स्थान पर ठहरा हुआ जल। शिष्ट साहित्य के लिए लोक साहित्य ही उपजीव्य का काम करता है। इसीलिए कहा जाता है कि शिष्ट साहित्य नष्ट हो सकता है किंतु लोक साहित्य लोक के कंठ में व्याप्त होने के कारण अमर है। एक कंठ से दूसरे कंठ तक इसकी परिव्याप्ति होने के कारण इसमें जो खुलापन है वह अलौकिक आनंद प्रदान करता है। डॉ. रामप्रसाद सिंह जी इसकी व्याख्या इन शब्दों में करते हैं '' लोक जीवन ही वह केन्द्र स्थल है जिसके चारों ओर लोकतत्व की सीमाएं घिरी होती हैं। लोकमानस और लोकप्रकृति जितनी मात्रा जहां–जहां मिलती है वहां– वहां उतनी ही मात्रा में लोक जीवन की प्रधानता रहती है। लोकजीवन के आचार–विचार, व्यवहार, संस्कार, अनुष्ठान, धर्म, रीति–रिवाज, विश्वास, रूढ़ि–परंपराएं और वार्ताएं आदि लोक संस्कृति के अंतर्गत आते हैं।'' [3]

लोक जीवन आभिजात्य, पांडित्य, शास्त्रीयता इत्यादि भावनाओं से शून्य होता है। इसमें किसी प्रकार का बनावटीपना नहीं होने के कारण सहज–सरल और सर्वग्राह्य होता है। यह अंतःकरण से निकली हुई वाणी होती है जिसमें पक्षियों के कलरव के समान निष्कपटता होती है, जो बालकों के समान निष्कपट और मन को छू लेने वाली होती है।

''संस्कृति ब्रह्म की भांति अवर्णनीय है। वह व्यापक अनेक तत्त्वों का बोध कराने वाली, जीवन की विविध प्रवृत्तियों से संबंधित है, अतः विविध अर्थों एवं भावों में उसका प्रयोग होता है। मानव मन की बाह्य प्रवृत्ति–मूलक प्रेरणाओं से जो कुछ विकास हुआ है उसे सभ्यता कहेंगे और उसकी अंतर्मुखी प्रवृत्तियों से जो कुछ बना है, उसे संस्कृति कहेंगे।'' [4]

मनुष्य का मन सदैव अनहोनी की आशंका से ग्रस्त रहता है। वह कभी भी अपना या अन्य किसी का अमंगल नहीं चाहता। ये मंगलमयी भावनाएं ही उसे अमंगलकारी शब्दों से बचाती हैं। जैसे किसी भी स्त्री के लिए विधवा होने की सोच भी अत्यन्त कष्टकर और अमंगलकारी है। व्यक्ति इसे सोचकर भी भयभीत हो जाता है , अतएव 'लोक' में अनिष्टकारी शब्दों के स्थान पर मंगलकारी शब्द ढूँढ़ लिए गए हैं यथा यदि किसी सुहागन स्त्री की सिंदूर की डिबिया का सिंदूर कम हो जाय तो उसे 'सिंदूर बढ़ना' कहते हैं। इसी प्रकार दूकानदार शाम को जब अपनी दूकान बंद करता है तब उसे 'दूकान बंद करना' नहीं कह कर 'दूकान बढ़ाना' कहते हैं। इसी प्रकार 'दीपक बुझना' भी अनिष्टकारी है अतएव 'दीपक बढ़ाना' ही कहते हैं। इस प्रकार मानव–मन की आंतरिक भावनाओं को जब सीधे–साधे तरीके से, जिसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं हो, वही 'लोक' संस्कृति है। ''लोक जीवन की जैसी सरलतम, नैसर्गिक अनुभूतिमयी अभिव्यंजना का चित्रण लोक गीतों व लोक कथाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। लोकसाहित्य में लोकमानस का ह्रदय बोलता है। प्रकृति स्वयं गुनगुनाती है। लोक जीवन में पग–पग पर लोक संस्कृति के दर्शन होते हैं। लोक साहित्य उतना ही पुराना है जितना कि मानव। इसलिए उसमें जन– जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है।'' [5]

लोक संस्कृति कभी मरती नहीं है। यह तो अजर–अमर है और अमृत के समान जन–जीवन की सच्ची–सरल अभिव्यक्ति है। लोकसंस्कृति में ही जीवन की सच्ची अनुभूतियां समाहित हैं जहां जो कुछ अंदर जैसा है वही बाहर भी अभिव्यक्त होता है बिना किसी लाग–लपेट के, बिना किसी बनावट के।

किसी भी राष्ट्र की गरिमा उसके साहित्य, कला और इतिहास में सन्निहित होती है। लोक कलाओं में ही मानव की संस्कृति और संस्कारों की जड़ें समाहित होती हैं, जिस पर हम गर्व कर सकते हैं।

डॉ. सावित्री परमार का मत है कि ''यही कलात्मक संस्कृति किसी भी देश की, राष्ट्र की, प्रांत की और समाज की बहुचर्चित गरिमा होती है। चारों दिशाओं में अपनी प्रशस्ति–ध्वज फहराती हैं। प्रत्येक देश–प्रांत और वहां वहां का जन–जीवन इस प्राणदायिनी संजीवनी में सांस लेता है। इसके कलात्मक बिन्दुओं पर सभी को गर्व रहता है। इन्हीं माध्यम से जन–जीवन में नव–चेतना, नव–उल्लास, नव–स्फूर्ति, नव–प्रगति और नव–निर्माण के प्रतिमानों को प्राप्त करता है।''

संदर्भ सूची

1. लोक साहित्य और संस्कृति, डॉ. रामनिवास शर्मा, लोक , पृ. 35
2. मंथन, 2010, डॉ. राजेश चतुर्वेदी, पृ. 30
3. मगही लोक गीत के वृहद् संग्रह , रामप्रसाद सिंह, पृ. 37
4. सम्मेलन पत्रिका, लोकसंस्कृति अंक, सम्पादकीय, पृ. 07 हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1973
5. डॉ. जगदीश व्योम, बाल साहित्य का केन्द्र, लोक साहित्य कादम्बिनी पत्रिका, जून 1998, पृ. 80
6. लोकसाहित्य के शिखर, डॉ. सावित्री परमार, पृ. 05